विनय आनन्द का द्वार

साधक की अंतर-भूमिका यह है कि जो प्रभु को खोजने निकले है, उन्हें निरालंब हो जाना पड़ता है। उन्हें और सब आश्रय खो देने पड़ते है तभी प्रभु का आसरा मिलता है। उन्हें असहाय हो जाना पड़ता है 'हेल्पलेस' तभी सहायता उपलब्ध होती है। जब तक उन्हें लगता है, मैं ही कर लूंगा, जब तक उन्हें लगता है कि मैं ही समर्थ हूँ, मेरे पास साधन है, आसरा है आलंबन है, तब तक वे प्रभु की अनुकंपा पाने से वंचित रह जाते हैं। ऐसे ही जैसे वर्षा होती है पहाड़ पर भी होती है, पर पहाड़ वंचित रह जाते है। वे खुद ही अपने से इतने भरे है कि और उनमें भरने की जगह नहीं, सुविधा नहीं। गढ्डों में भी होती है वर्षा, पर गढ्डे भर जाते है, क्योंकि वे खाली है, वह भर दिया जाता है, जो भरा है, वह खाली रह जाता है।

धन हो तो आदमी को लगता है मेरे पास कुछ है, पद हो, तो लगता है मेरे पास कुछ है, ज्ञान हो तो लगता है मेरे पास कुछ है। ये सब साधन है। ये सब आलंबन है। ये सब आश्रय है। इनके आधार पर आदमी अपने अंहकार को मजबूत करता है। **साधक तो वे है, जिनके पास कोई साधन नहीं, जिनके पास कुछ भी नहीं। कुछ भी नहीं है का यह अर्थ नहीं है कि वे बिना वस्त्रों के नग्न खड़े होंगे, तभी कुछ नहीं होगा। क्योंकि जो नग्न खड़ा है बिना वस्त्रों के, वह भी हो सकता है अपने त्याग को आलंबन बना ले और कहे, मेरे पास त्याग है, दिगंबरत्व है, नग्नता है, सन्यास है।** मेरे पास कुछ है। तो फिर आलंबन हो गया। और जब आपके पास कुछ है, तो आप परमात्मा के द्वार पर पूर्ण भिक्षु की तरह खड़े नहीं हो पाते, आपकी अकड़ कायम रहे जाती है। साधक का अर्थ ही यही है कि हम जान गये यह बात कि **सुरक्षा का उपाय करो कितना भी, सुरक्षा हो नहीं पाती। कितना ही धन जोड़ो, आदमी निर्धन ही रह जाता है, भीतर गरीब ही रह जाता है और कितनी ही शक्ति का आयोजन करो, भीतर आदमी अशक्त ही रह जाता है और मृत्यु से बचने के लिये ही पहरे लगाओ मौत न मालूम किस अज्ञात मार्ग से बिना पदचाप किये आ जाती है। सारी सुरक्षा का इंतजाम पड़ा रह जाता है और मिट जाता है। साधक इस बात की प्रज्ञा, इस बात की समझ है, अंडरस्टैडिंग है कि सुरक्षा करके भी सुरक्षा होती कहां है!** हो भी जाती, तो भी ठीक था। होती ही नहीं, हो ही नहीं पाती। सिर्फ धोखा होता है, लगता है कि हम सुरक्षित है, हो नहीं पाते सुरक्षित कभी।

जिंदगी असुरक्षा है। असुरक्षा चारों तरफ है। हम असुरक्षा के सागर में है। कूल किनारे का कोई पता नहीं, गंतव्य दिखाई नहीं

PMYV

पड़ता, पास में कोई नाव-पतवार नहीं, डूबना निश्चित है। फिर आंखे बंद करके हम सपनों की नावे बना लेते हैं आंखे बंद कर लेते है और तिनकों का सहारा बना लेते है। तिनकों को पकड़ लेते है और सोचते है, किनारा मिल गया। ऐसे धोखा, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना होती है।

साधक का अर्थ है, जो इस सत्य को समझा कि सुरक्षा करो कितनी ही, सुरक्षा नहीं होती है। मृत्यु से बचो कितने ही, मृत्यु आती है। कितना ही चाहों कि मैं न मिटुं, मिटना सुनिश्चित है और जब सुरक्षा से सुरक्षा नहीं आती, तो **साधक का अर्थ है कि वह कहता है, हम असुरक्षा में राजी है। अब हम राजी है। अब हम पहरेदार न लगायेंगे। अब हम तिनकों का सहारा न पकडेंगे। अब हम जानेंगे कि कोई कूल-किनारा नहीं, असुरक्षा का सागर है और डूबना निश्चित है और मरना अनिवार्य है। मिटेंगे ही, हम राजी है। अब हम कोई उपाय नहीं खोजते है और जो इतने होने को राजी हो जाते है, अचानक वे पाते है, असुरक्षा मिट गई। अचानक वे पाते है, सागर खो गया। अचानक वे पाते है, किनारे पर खड़े है।**

क्यों? ऐसा क्यों हो जाता होगा? ऐसा चमत्कार क्यों घटित होता है कि जो सुरक्षा खोजता है, उसे सुरक्षा नहीं मिलती और जो असुरक्षा से राजी हो जाता है, वह सुरक्षित हो जाता है? ऐसा चमत्कार, क्यों घटित होता है? उसका कारण है, जितनी हम सुरक्षा खोजते है, उतनी ही हम असुरक्षा अनुभव करते है। **असुरक्षा का जो अनुभव है, वह सुरक्षा की खोज से पैदा होता है। जितना हम डरते है, जितना हम भयभीत होते है, उतने हम भय के कारण अपने चारों तरफ खोजकर खड़े करते है। वह जो असुरक्षा का सागर, कहा, वह है नहीं, वह हमारी सुरक्षा की खोज के कारण निर्मित हुआ है। एक दुष्टचक्र है।** असुरक्षा से बचने की जो आकांक्षा है, वह असुरक्षा पैदा कर देती है। जब असुरक्षा पैदा हो जाती है, तो हमारे भीतर और बचने की आंकाक्षा प्रगाढ़ होती जाती है। वही आकांक्षा सागर को बड़ा करती जाती है। **साधक का अनुभव यह है कि जो सुरक्षा का ख्याल ही छोड़ देता है, उसकी अब कैसी असुरक्षा?** जिसने मरने के लिये तैयारी कर ली, जो राजी हो गया, उसकी कैसी मौत? अब मौत करेगी भी क्या? वह तो उसी पर कुछ कर पाती है, जो बचता था, सुरक्षा का इंतजाम करता था कि मौत आ न जाये, मौत उसी के लिये है। जो मौत से भयभीत ही नहीं है, जो मौत का आलिंगन करने को तैयार है, उसके लिये कैसी मौत! मौत, मौत के भय में है, उस भय के कारण हमे रोज मरना पड़ता है। रोज मरने में ही जीना पड़ता है, जी ही नही पाते, मरते ही रहते है।

साधक निरालंब होने को ही अपनी स्थिति मानते है। वहीं स्थिति है। वे मांग ही नहीं करते। वे कहते ही नहीं कि हमें बचाओ। वे कहते है, हम तैयार है, जो भी हो। **वे सूखे पत्तो की तरह हो जाते है, हवाये जहां ले जाती है, वहीं चले जाते है। वे नहीं कहते कि पश्चिम जायेंगे कि पश्चिम हमारा किनारा है, कि पूरब जायंगे कि पूरब हमारी मंजिल है। वे नहीं कहते कि हवा हमें आकाश में उठाये और बादलों के सिंहासन पर बिठा दे। हवा नीचे गिरा देती है, तो वे विश्राम करते है वृक्षों के तले में, हवा ऊपर उठा देती है, तो वे बादलों में परिभ्रमण करते है।** जिनका कोई आग्रह नहीं है। जो किसी विशेष स्थिति के लिये आतुर नहीं है कि ऐसा ही हो। जो भी होता है उसके लिये राजी है, उनके जीवन में कष्ट समाप्त हो जाता है। जो बुद्धिमान है, वे सुरक्षा के लिये राजी हो जाते है और सुरक्षित हो जाते है। **साधक से ज्यादा सुरक्षित कोई भी नहीं है और गृहस्थ से ज्यादा असुरक्षित कोई भी नहीं है और गृहस्थ से ज्यादा सुरक्षा का इंतजाम कोई नहीं करता और साधक से कम सुरक्षा का इंतजाम कौन करता है।**

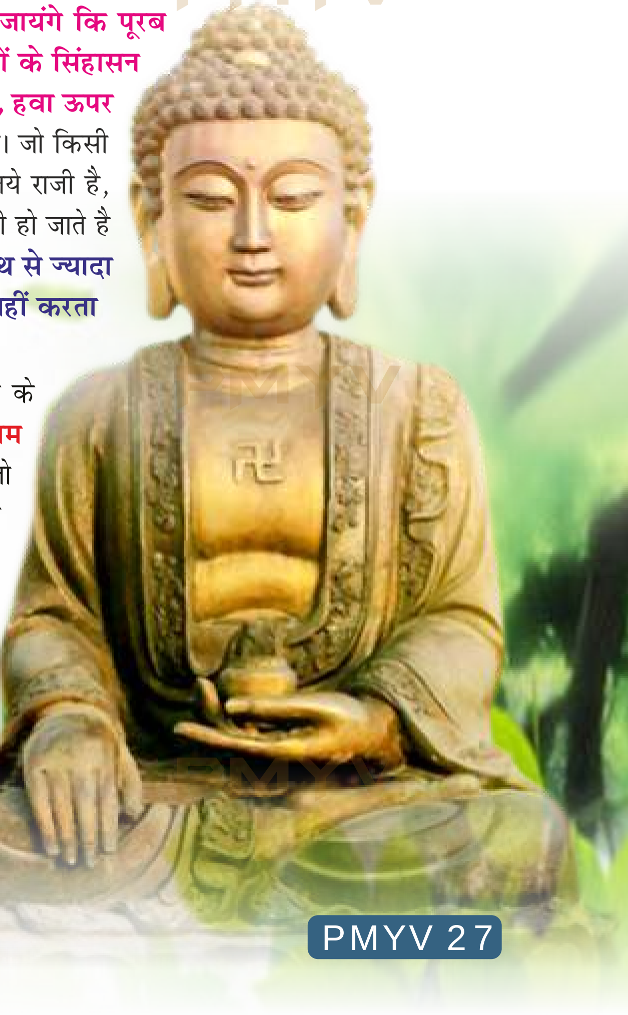

एक राजा बहुत बड़ा प्रजापालक था, हमेशा प्रजा के हित में प्रयत्नशील रहता था, **वह इतना कर्मठ था कि अपना सुख, ऐशो आराम सब छोड़कर सारा समय जन कल्याण में ही लगा देता था।** यहां तक कि जो मोक्ष के साधन है अर्थात भगवत-भजन, उसके लिये भी वह समय नहीं निकाल पाता था। एक सुबह राजा वन की तरफ भ्रमण करने के लिये जा रहा था कि उसे एक देव के दर्शन हुये। राजा ने देव को प्रणाम करते हुये उनका अभिनन्दन किया और देव के हाथों में एक लम्बी, चौड़ी पुस्तक देखकर उनसे पूछा, महाराज आपके हाथ में यह क्या है-देव बोले, राजन! यह हमारा बहीखाता है, जिसमें सभी भजन करने वालों के नाम है। राजा ने निराशा युक्त भाव से कहा, कृपया देखिये तो इस किताब में कहीं मेरा नाम भी है या नहीं देव महाराज किताब का एक-एक पृष्ठ उलटने लगे, परन्तु राजा का नाम कहीं भी नजर नहीं आया।

PMYV

राजा ने देव को चिंतित देखकर कहा, महाराज! आप चिंतित ना हो आपके ढूंढने में कोई भी कमी नहीं है, वास्तव में ये मेरा दुर्भाग्य है कि मैं भजन कीर्तन के लिये समय नहीं निकाल पाता और इसीलिये मेरा नाम यहां नहीं है। उस दिन राजा के मन में आत्म ग्लानि सी उत्पन्न हुई लेकिन इसके बावजूद उन्होंने इसे नजर अंदाज कर दिया और पुनः परोपकार की भावना लिये दूसरों की सेवा करने में लग गये, कुछ दिन बाद राजा फिर सुबह वन की तरफ टहलने के लिये निकले तो उन्हें वही देव महाराज के दर्शन हुये। इस बार भी उनके हाथ में एक पुस्तक थी, इस पुस्तक के रंग और आकार में बहुत भेद था और यह पहली बार से काफी छोटी भी थी। राजा ने फिर उन्हें प्रणाम करते हुये पूछा महाराज! आज कौन सा बहीखाता आपने हाथों में लिया हुआ है। **देव ने कहा राजन! आज के बहीखाते में उन लोगों के नाम लिखे है जो ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय है।**

राजा ने कहा, कितने भाग्यशाली होंगे वे लोग निश्चित ही वे दिन रात भगवत, भजन में लीन रहते होंगे! क्या इस पुस्तक में कोई मेरे राज्य का भी नागरिक है? देव महाराज ने बहीखाता खोला और **ये क्या पहले पन्ने पर पहला नाम राजा का ही था। राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, महाराज मेरा नाम इसमें कैसे लिखा हुआ है, मैं तो मंदिर भी कभी कभार ही जाता हूँ?**

देव ने कहा राजन! इसमें आश्चर्य की क्या बात है, **जो निष्काम होकर संसार की सेवा करते है जो लोग संसार के उपकार में अपना जीवन अर्पण करते है जो लोग मुक्ति का लोभ भी त्यागकर प्रभु के निर्बल संतानों की सेवा सहायता में अपना योगदान देते हैं उन त्यागी महापुरूषों का भजन स्वयं ईश्वर करता है, ऐ राजन! तू मत पूछना कि तू पूजा-पाठ नहीं करता लोगों की सेवा करके तू असल में भगवान की ही पूजा करता है परोपकार और निःस्वार्थ लोकसेवा किसी भी उपासना से बढ़कर है।** देव ने वेदों का उदाहरण देते हुये कहा-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छनं समा एवान्त्वाप नान्यतोअस्ति व कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात् कर्म करते हुये सौ वर्ष जीने की इच्छा करो तो कर्मबंधन में लिप्त हो जाओगे राजन! भगवान दीनदयालु है, उन्हे खुशामद नहीं भाती बल्कि आचरण भाता है सच्ची भक्ति तो यही है कि परोपकार करो दीन, दुखियों का हित, साधन करे अनाथ विधवा, किसान व निर्धन अत्याचारियों से सताये जाते हैं इनकी यथाशक्ति सहायता और सेवा करो और यही परम भक्ति है।

राजा को आज देव के माध्यम से बहुत बड़ा ज्ञान मिल चुका था और **अब राजा भी समझ गया कि परोपकार से बड़ा कुछ भी नहीं और जो परोपकार करते हैं वही भगवान के सबसे प्रिय होते हैं। जो व्यक्ति निः स्वार्थ भाव से लोगों की सेवा करने के लिये आगे आते है, परमात्मा हर समय उनके कल्याण के लिये प्रयत्न करता है।** हमारे पूर्वजों ने कहा भी है- **''परोपकाराय पुण्याय भवति''** अर्थात दूसरों की सेवा को ही पूजा समझकर कर्म करना, परोपकार के लिये अपने जीवन को

सार्थक बनाना ही सबसे बड़ा पुण्य है और जब आप भी ऐसा करेंगे तो स्वत: ही आप वह ईश्वर के प्रिय भक्तों में शामिल हो जायेंगे।

निरालंब होना है और जब कोई व्यक्ति इतना साहस जुटा लेता है, तो उसे परमात्मा का आलंबन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है। हम कुछ कर लेगे, ऐसी जिनकी भ्रांति टूट गई, जिनके कर्ता का भाव टूट गया, परमात्मा की सहायता केवल उन्हीं को उपलब्ध हो सकती है। क्षण की भी देर नहीं लगती, परमात्मा की ऊर्जा दौड़ पड़ती है, आपके रोएं-रोएं में समा जाती है। लेकिन हम अपने पर ही भरोसा करते चलते है। सोचते है, अपने को बचा लेंगे। कितने लोग सोचते रहे है!

निश्चित ही, सागर के साथ एक होना खतरनाक है, क्योंकि बूंद मिट जाती है। लेकिन यह खतरा बहुत ऊपरी है। क्योंकि सागर के साथ बूंद तो मिट जाती है, लेकिन मिट जाती है इस अर्थो में कि सागर हो जाती है। क्षुद्रता टूट जाती है, विराट के साथ मिलन हो जाता है। लेकिन विराट के साथ हिम्मत तो जुटानी पड़ती है अपनी क्षुद्र सीमाओं को तोड़ देने की।

ये तो सब प्रतीक है कि हम नाम बदल देते है, सिर्फ इसी ख्याल से कि उसकी पुरानी आइडेंटिटी, उसका पुराना तादात्म्य छूट जाये। कल तक जिन सीमाओं से, जिस नाम से समझा था कि मैं हूँ, वह टूट जाये। उसके वस्त्र बदल देते है, ताकि उसकी इमेज बदल जाये, उसकी जो प्रतिमा थी कल तक कि लगता था यह मैं हूँ, यह कपड़ा, यह ढंग, वह टूट जाये। बाहर से शुरू करते है क्योंकि बाहर हम जीते है और बाहर से ही बदलाहट की जिसकी हिम्मत नहीं है, वह भीतर से बदलने की तैयारी कर पायेगा, यह जरा कठिन है।

लोग कहते है, कपड़े तो बाहर है, बदलाहट तो भीतर की चाहिये। कपड़े बदलने तक की हिम्मत तुम्हारी नहीं है, तुम भीतर की बदलाहट कर पाओगे? कपड़े बदलने में कुछ भी तो नहीं बदल रहा है, यह तो मुझे भी पता है। लेकिन तुम कपड़ा बदलने तक का साहस नहीं जुटा पाते और तुम कहते हो, हम आत्मा को बदल लेंगे। **शायद अपने को धोखा देना आसान होगा आत्मा को बदलने की बात में, क्योंकि किसी को पता नहीं चलेगा कि बदल रहे हो कि नहीं बदल रहो हो। खुद को भी पता नहीं चलेगा।** ये कपड़े पता चलेंगे। लेकिन जो बदलने के लिये तैयार है, वह कहीं से भी शुरू कर सकता है। भीतर से शुरू करना कठिन है, क्योंकि भीतर का हमें कोई पता ही नहीं है।

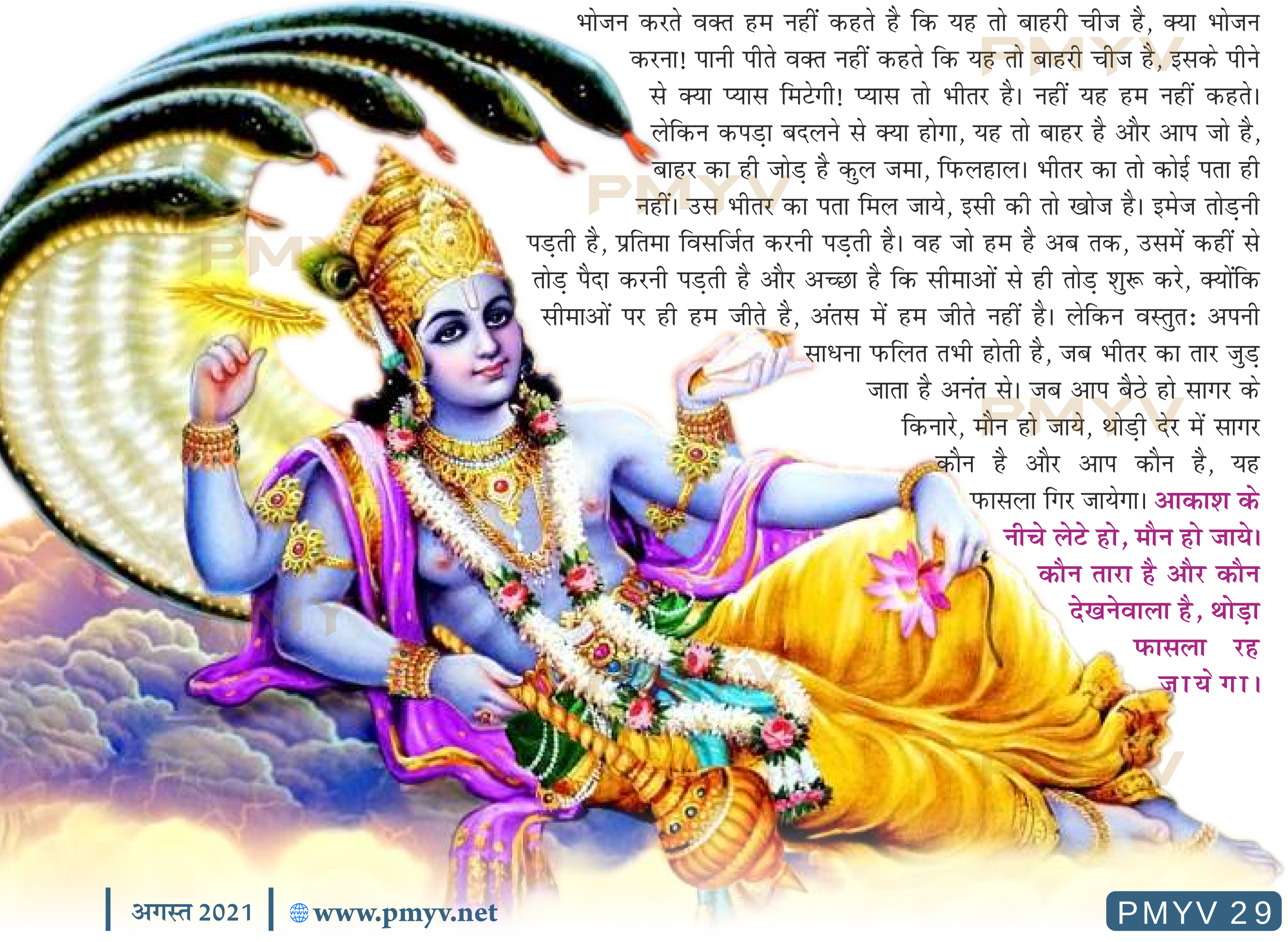

भोजन करते वक्त हम नहीं कहते है कि यह तो बाहरी चीज है, क्या भोजन करना! पानी पीते वक्त नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, इसके पीने से क्या प्यास मिटेगी! प्यास तो भीतर है। नहीं यह हम नहीं कहते। लेकिन कपड़ा बदलने से क्या होगा, यह तो बाहर है और आप जो है, बाहर का ही जोड़ है कुल जमा, फिलहाल। भीतर का तो कोई पता ही नहीं। उस भीतर का पता मिल जाये, इसी की तो खोज है। इमेज तोड़नी पड़ती है, प्रतिमा विसर्जित करनी पड़ती है। वह जो हम है अब तक, उसमें कहीं से तोड़ पैदा करनी पड़ती है और अच्छा है कि सीमाओं से ही तोड़ शुरू करे, क्योंकि सीमाओं पर ही हम जीते है, अंतस में हम जीते नहीं है। लेकिन वस्तुत: अपनी साधना फलित तभी होती है, जब भीतर का तार जुड़ जाता है अनंत से। जब आप बैठे हो सागर के किनारे, मौन हो जाये, थोड़ी देर में सागर कौन है और आप कौन है, यह फासला गिर जायेगा। **आकाश के नीचे लेटे हो, मौन हो जाये। कौन तारा है और कौन देखनेवाला है, थोड़ा फासला रह जायेगा।**

सब फासला विचार का है। वियोग विचार का है, संयोग निर्विचार का है। जहाँ भी निर्विचार हो जायंगे, वहीं संयोग हो जायेगा।

एक वृक्ष के पास बैठ जाये और निर्विचार हो जाये, तो वृक्ष और वृक्ष को देखने वाला दो नहीं रह जायेंगे। जो देख रहा है वह और वह जो देखा जा रहा है, एक हो जायेगा। एक क्षण को भी ऐसा अनुभव हो जाये कि वह जो धूप मुझे घेरे हुये है, वह और मैं एक हूँ वह जो वृक्ष मुझ पर छाया किये है, वह और मैं एक हूँ। यह विचार से नहीं, यह आप सोच सकते है। यह आप वृक्ष के पास बैठकर सोच सकते है कि मैं और वृक्ष एक हूँ। तब संयोग नहीं होगा, क्योंकि अभी सोचने वाला मौजूद है। यह जो कह रहा है, मैं एक हूँ, यह अपने को समझा रहा है कि मैं एक हूँ और समझाने की तभी तक जरूरत है जब तक अनुभव नहीं होता कि एक हूँ। वृक्ष के पास निर्विचार हो जाये तो अचानक उद्घाटन होगा कि एक हूँ यह विचार नहीं होगा तब यह रोएं-रोएं में प्रतीत होगा। वृक्ष के पत्ते हिलेंगे, तो लगेगा मैं हिल रहा हूँ। वृक्ष में फूल खिलेंगे तो लगेगा मैं खिल रहा हूँ, वृक्ष से सुंगध फैलने लगेगी तो लगेगी मेरी सुंगध है। लगेगी, यह विचार नहीं होगा, यह प्रतीत होगा, यह आत्मिक अनुभव होगा।

हम सब एक अपनी दुनिया बनाकर जीते है- नाम, क्योंकि प्रत्येक आदमी अलग-अलग जगत में जीता है। एक ही घर में अगर सात आदमी होते है, सात दुनियायें होती है। क्योंकि बेटे की दुनिया वहीं नहीं हो सकती, जो बाप की है और इसलिये तो घर में कलह होती है। सात दुनिया एक घर में रहे, सात जगत, तो कलह होने ही वाली है। सात बर्तन में हो जाती है तो सात जगत बड़ी चीजें है। एक वृक्ष के पास आप भी बैठे हुये है। आप एक बढ़ई है। एक चित्रकार बैठा हुआ है, एक कवि बैठा हुआ है, **एक प्रेमी बैठा हुआ है जिसे उसकी प्रेमिका मिल गई। तो बढ़ई के लिये वृक्ष में सिवाय फर्नीचर के कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता वह वृक्ष एक ही है, लेकिन बढई फर्नीचर की दुनिया में बैठा होगा वहां तो बढ़ई अगर बैठा है वृक्ष के नीचे तो वह वृक्ष उसके लिये संभावी फर्नीचर, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। उस वृक्ष में फूल नहीं खिलते, कुर्सियां-मेजे लगती है। उसकी अपनी दुनिया है। उसके बगल में जो चित्रकार बैठा है, उसके लिये वृक्ष सिर्फ रंगों का एक खेल है।**

इधर इतने वृक्ष लगे है। साधारण आदमी को वृक्ष हरे दिखाई पड़ते है और हरा लगता है कि एक रंग है, लेकिन चित्रकार को हरे हजार रंग है-हजार शेड है हरे रंगे के। वह चित्रकार को ही दिखाई पड़ते है आम आदमी को दिखाई नहीं पड़ते। आम व्यक्ति के लिये हरा यानी हरा, उसमें कोई और मतलब नहीं होता। लेकिन चित्रकार जानता है कि हर वृक्ष अपने ढंग से हरा है। दो वृक्ष एक से हरे नहीं है। हरे में भी हजार हरे है। पत्ता-पत्ता अपने ढंग से हरा है। तो जब चित्रकार देखता है वृक्ष को तो उसे जो दिखाई पड़ता है, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ता। उसे पत्ते-पत्ते का व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है।

वहीं पर एक कवि बैठा, उसके लिये वृक्ष काव्य बन जाता है। कवि वृक्ष को अपने नजरिये से देखता है। वह हमें कभी ख्याल में नहीं आयेगा कि कवि किस यात्रा पर निकल गया। उसका अपना जगत है। उसे खिले हुये फूलों से लदे हुये वृक्ष के नीचे, जहाँ कि वर्षा की तरह फूल गिर रहे हों, इससे वृक्ष का कोई संबंध नहीं है। यह उसके अपने भीतर के जगत का विस्तार है, जो वह वृक्ष पर फैला देता है। **पूर्णिमा का चांद भी उदास आदमी को उदास मालूम पड़ता है। हम अपने जगत को अपने भीतर से फैलाते है अपने चारों तरफ। हर आदमी अपने भीतर बीज लिये है अपने जगत का और अपने चारों तरफ फैला लेता है। वह मेरा फैलाव है, मेरे मरने के साथ मिट जायेगा वह जगत । हर आदमी के मरने के साथ एक दुनिया नष्ट होती है। जो**

थी, वह तो बनी रहती है, लेकिन जो हमने फैलाई थी, बनाई थी, हमारा सपना थी, वह खो जाता है।

काशी में नारायण नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। उनके कोई संतान नहीं थी। अतएव उन्होंने सौ वर्षो तक भगवान शंकर की आराधना की। अन्त में भगवान प्रकट हुये और उन्हें अपने ही समान पराक्रमी और प्रभावशाली पुत्र होने का वरदान देकर अर्न्तध्यान हो गये। चार वर्ष बीत गये, गर्भ से बालक नहीं निकला।

नारायण ने यह देखकर कहा-**''पुत्र! मनुष्य योनि के लिये जीव तरसते है। सभी पुरूषार्थ जिसमें सिद्ध हों, उस मनुष्य शरीर का अनादर करके तुम माता के उदर में ही क्यों स्थित हो रहे हो?**'' गर्भस्थ बालक ने कहा, **''मैं यह सब जानता हूँ, पर मैं काल से बहुत डर रहा हूँ यदि काल का भय न हो तो मैं बाहर आऊ।''**

यह सुनकर नारायण भगवान सदाशिव की शरण गये और उनके आदेश से **धर्म, ज्ञान, वैराग्य** और **ऐश्वर्य** ने आश्वासन दिया कि **'हम तुम्हारे मन से कभी अलग न होंगे।'** इसी प्रकार अधर्म, अज्ञानादि ने भी कभी उनके पास न भटकने की प्रतिज्ञा की। ऐसा आश्वासन मिलने पर भी जब वह बालक उत्पन्न हुआ तब काँपने और रोने लगा। **इस पर विभूतियों ने कहा-'मांते! तुम्हारा यह पुत्र काल से भयभीत होकर रोता और काँपता है, इसलिये यह कालभीति नाम से प्रसिद्ध होगा।'**

संस्कारों से युक्त होकर कालभीति ने पाशुपतये मन्त्र की दीक्षा ली और तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। वह माही-सागर संगम पर पहुँचा और वहाँ स्नान करके उसने पूर्वोक्त मन्त्र का एक करोड़ जप किया। लौटने पर एक बिल्व वृक्ष के समीप पहुँचने पर उसकी इन्द्रियाँ लय को प्राप्त हो गयी और क्षणभर में वह केवल परमानन्द स्वरूप हो गये। दो घडियों तक समाधि में स्थित होने के पश्चात् वह पुन: पूर्वावस्था में आये और यह देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। वह मन ही मन कहने लगे, 'मुझे ऐसा आनन्द किसी भी तीर्थ में नहीं मिला, लगता है यह स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ है। अत: मैं यहीं रहकर बड़ी भारी तपस्या करूँगा।

यों विचारकर कालभीति उसी बिल्व वृक्ष के नीचे एक अंगूठे के अग्रभाग पर खड़ा होकर **पाशुपतये-मन्त्र** का जप करने लगे। इस प्रकार सौ वर्ष बीत गये। तदनन्तर एक मनुष्य उनके सामने जल से भरा घड़ा लेकर आया और बोला- **'महामाते! आज आपका नियम पूरा हो गया। अब इस जल को ग्रहण कीजिये। इस पर कालभीति ने कहा, 'आप किस वर्ण के है। आपका आचार-व्यवहार कैसा है? इन सब बातों को आप यथार्थ रूप से बतलाइये।** बिना इन सब रहस्यों को जाने मैं जल कैसे ग्रहण करूँ?

इस पर आगन्तुक बोला, 'मैं अपने माता-पिता को नहीं जानता। मुझे यह भी पता नहीं कि वे थे और मर गये या वे थे ही नहीं। दूसरा मैं अपना वर्ण भी नहीं जानता। आचार और धर्म-कर्मो से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है।' इस पर कालभीति ने कहा, अच्छा! यदि ऐसी बात है तो मैं आपका जल नहीं लेता। क्योंकि मैंने गुरूओं से ऐसा सुना है कि जिसके कुल का ज्ञान न हो, जिसके जन्म में वीर्य-शुद्धि का अभाव हो, उसका अन्न-जल ग्रहण करने वाला पुरूष तत्काल कष्ट में पड़ जाता है। साथ ही जो हीन वर्ण का है तथा भगवान शंकर का भक्त नहीं है, उससे दानादि लेने-देने का सम्बन्ध न करना चाहिये। इसलिये जलादि लेने के पूर्व वर्ण तथा आचारादि का ज्ञान आवश्यक होता है।'

यह सुनकर उस पुरूष ने कहा-'तुम्हारी इस बात पर मुझे हँसी आती है या तो तुम्हारा मस्तिष्क बिगड़ गया है या तो तुम्हारे गुरू को ही यथार्थ ज्ञान नहीं है, अथवा तुमने उनका ठीक अभिप्राय ही नहीं समझा। भला,

जब सब भूतों में भगवान शंकर ही निवास करते है, तब किसी की निन्दा भगवान शंकर की ही निन्दा हुई अथवा सभी शब्द तथा वस्तुएँ शिवमय होने के कारण सर्वथा पवित्र है अथवा यदि शुद्धि का ही विचार किया जाये तो इस जल में क्या अपवित्रता है? यह घड़ा मिट्टी का बना हुआ है। फिर अग्नि से पकाकर जल से भरा गया है। इन सब वस्तुओं में तो कोई अशुद्धि है नहीं। यदि कहो कि मेरे संसर्ग से अशुद्धि आ गयी, तब तो तुम्हें इस पृथ्वी पर न रहकर आकाश में रहना, चलना-फिरना, क्योंकि मैं इस पृथ्वी पर खड़ा हूँ। मेरे संसर्ग से यह पृथ्वी अपवित्र हो गयी है।

इस पर कालभीति ने कहा- **'अच्छा ठीक! देखो, यदि सम्पूर्ण भूत शिवमय ही है और कही कोई भेद नहीं है तो ऐसा मानने वाले लोग भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थो को छोड़कर मिट्टी क्यों नहीं खाते? राख और धूल क्यों नहीं फाँकते? भगवान अवश्य सम्पूर्ण भूतों में है, पर जैसे स्वर्ण के बने हुये आभूषणों में सबका व्यवहार एक सा नहीं होता, गले का गहना गले में तथा अंगुली का अंगुली में पहना जाता है तथा उनमें भी खोटे-खरे कई भेद होते है है, उसी प्रकार ऊँच-नीच, शुद्ध-अशुद्ध-सब में भगवान सदाशिव विराजमान है, पर व्यवहार भेद आवश्यक है। जैसे खोटे स्वर्ण को भी अग्नि आदि से शुद्ध कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस शरीर को भी व्रत, तपस्या और सदाचार आदि के द्वारा शुद्ध बना लेने पर मनुष्य स्वर्ग में जाता है।'**

इस तरह भगवन के सर्वत्र व्याप्त होने पर भी देहादि में कर्म वशात् शुद्धि-अशुद्धि मानने और तन्मूलक आचारादि का पालन करने में कोई पागलपन या मूर्खता नहीं है। इसलिये मैं तुम्हारा जल किसी प्रकार ग्रहण नहीं कर सकता। यह कार्य भला हो या बुरा, मेरे लिये तो वेद ही परम प्रमाण है। कालभीति के इस व्याख्यान को सुनकर वह आगन्तुक बड़े जोर से हँसा और उसने अपने दाहिने पैर के अँगूठे से भूमि खोदकर एक विशाल और सुन्दर गर्त बना दिया तथा उसमें वह घड़े का जल गिराने लगा। उससे वह गर्त भर गया, फिर भी घड़े का जल बचा ही रहा। तब उसने दूसरे पैर से भूमि खोदकर एक बड़ा सरोवर बना दिया और घड़े का बचा हुआ जल सरोवर में डाल दिया, जिससे वह तालाब भी पूरा भर गया।

कालभीति उसके इस आश्चर्यमय कर्तव्य से तनिक भी चकित या विचलित न हुआ। इससे क्या हुआ?'' इस पर आगन्तुक ने कहा-'तुम हो तो मुर्ख, पर बाते पण्डितों जैसी करते हो, पुराणवेता विद्वानों के मुख से क्या यह श्लोक तुमने नहीं सुना-

कूपोऽन्यस्य घटोऽन्यस्य रज्जुरन्यस्य भारत।
पाययत्येक: पिबत्येक: सर्वे ते समभागिन:॥

'भारत! कुआं दूसरे का, घड़ा दूसरे का और रस्सी दूसरे की है, एक पानी पिलाता है और एक पीता है, वे समान फल के भागी होते है।'

अतः कूप-तालाबादि के जल में क्या दोष होगा, फिर अब तुम इस सरोवर के जल को क्यों नहीं पीते? कालभीति ने कहा-'आपका कहना ठीक है, तथापि आपने अपने घड़े के जल से ही तो इस सरोवर को भरा है। यह बात प्रत्यक्ष देखकर भी मेरा जैसा मनुष्य इस जल को कैसे पी सकता है? अतः मैं इस जल को किसी प्रकार नहीं पीऊँगा।' इस तरह कालभीति के दृढ़ निश्चय को देखकर वह पुरूष एक बार खूब जोरों से हँसा और क्षणभर में अन्तर्ध्यान हो गया। अब तो कालभीति को बड़ा विस्मय हुआ। वह बार-बार सोचने लगा-'यह क्या वृतान्त है?'' इतने में ही उस बिल्व वृक्ष के नीचे एक अत्यन्त **तेजस्वी बाणलिंग** प्रकट हो गया।

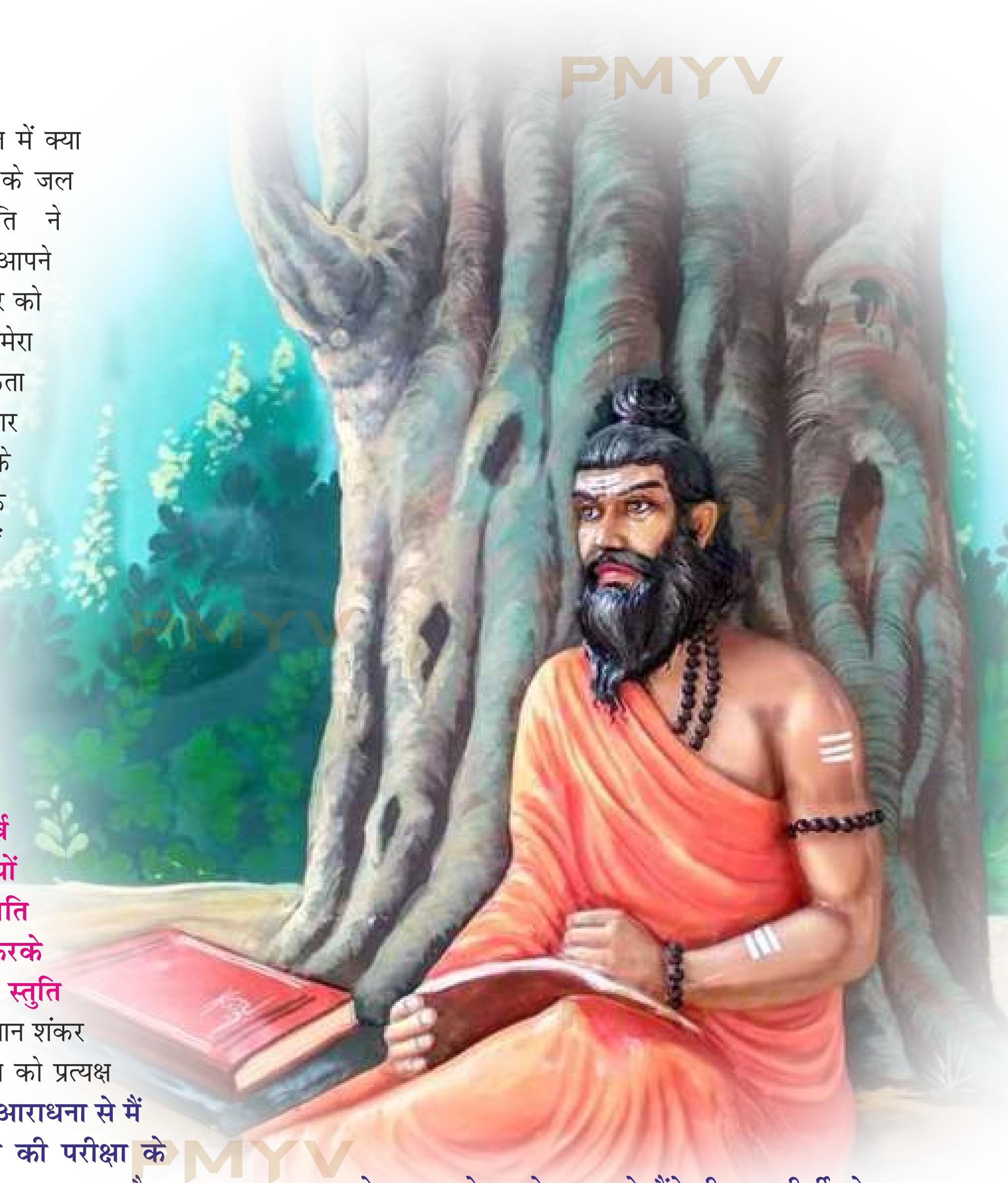

आकाश में **गन्धर्व गाने लगे, इन्द्र ने पारिजात के पुष्पों की वर्षा की। यह देखकर कालभीति भी बड़ी प्रसन्नता से प्रणाम करके भक्ति-पूर्वक भगवान शिव की स्तुति करने लगे।** स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने उस लिंग से प्रकट होकर कालभीति को प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा, **'वत्स! तुम्हारी आराधना से मैं बड़ा सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारी धर्म निष्ठा की परीक्षा के लिये मैं ही यहाँ मनुष्य रूप में प्रकट हुआ था और इस गड्ढे तथा सरोवर के जल को मैंने ही सब तीर्थो के जल से भरा है। तुम मनोवांछित वर माँगो। तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है।'**

कालभीति ने कहा- 'यदि आप सन्तुष्ट है तो सदा यहाँ निवास करे। आपके इस शुभ लिंग पर जो भी दान, पूजन आदि किया जाय, वह अक्षय हो। जो इस गर्त में स्नान करके पितरों को तर्पण करे, उसे सब तीर्थो का फल प्राप्त हो और उसके पितरों को अक्षय गति की प्राप्ति हो।' भगवान सदाशिव ने कहा-**'जो तुम चाहते हो, वह सब होगा। साथ ही तुम नन्दी के साथ मेरे दूसरे द्वारपाल बनोगे। कालमार्ग पर विजय पाने से तुम महाकाल के नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे। यहाँ करन्धम आयेंगे, उन्हें उपदेश करके तुम मेरे लोक में चले आना।'** इतना कहकर भगवान अन्तर्ध्यान हो गये।

संसार के त्याग का मतलब यह नहीं कि ये जो चट्टाने है इनको छोड़ देना, ये जो वृक्ष है इनको छोड़ देना या जो लोग है इनको छोड़ देना। संसार के त्याग का अर्थ है, वह जो प्रोजेक्शन है हमारा, प्रक्षेप है, उसे छोड़ देना। जो है वैसा ही देखना, उस पर कुछ भी आरोपित न करना। अगर उसी वृक्ष के नीचे जिसकी मैंने बात की, एक साधक खड़ा हो, उसका कोई जगत नहीं है। साधक का अर्थ है, जिसका कोई जगत नहीं है, चीजों को देखता है, जैसी वे है। अपनी तरफ से आरोपित नहीं करता, इंपोज नहीं करता, उन पर कुछ थोपता नहीं है।

पहाड़ो-पर्वतों से उतरते हुये झरनों को हमने देखा है। समुद्र की ओर बहती नदियों से हम परिचित है। पानी सदा ही नीचे की ओर बहता है, नीची से नीची जगह खोज लेता है, गड्ढों तक ही उसकी यात्रा होती है, अधोगमन ही उसका मार्ग है। उसकी प्रकृति है नीचे की ओर जाना। जहां नीची जगह मिल जाये वहीं उसकी यात्रा है। अग्नि बिल्कुल ही इसके विपरीत है, ऊर्ध्वगामी उसका पथ है। आकाश की ओर ही दौड़ती चली जाती है। कहीं भी जलायें उसे, कैसे भी रखे, दीपक को उलटा भी लटका दें तो भी ज्योति, शिखा ऊपर की तरफ ही भागेगी।

चेतना दोनों तरह से बह सकती है, पानी की तरह भी और अग्नि की तरह भी। अधिकांश मनुष्य पानी की तरह बहते है। नीचे की

ओर, हमारी चेतना नीचे उतरने का मार्ग पाते ही तत्काल ऊपर की सीढ़ी छोड़ देती है, होना चाहिये अग्नि की तरह, पर हम हैं पानी की तरह। हमारा चिंतन अग्नि की तरह होना चाहिये, जरा अवसर मिले, नीचे का रास्ता छोड़ दें, पंख फैलाकर आकाश को समेट लें अपनी बाहों में। ऊपर की यात्रा साथ ही साथ भीतर की भी यात्रा है और ठीक उसी तरह नीचे की यात्रा बाहर की भी यात्रा है। ऊपर-भीतर, नीचे बाहर एक दूसरे के पर्यायवाची है। जितने भीतर जायेंगे, उतने ही ऊपर चले जायेंगे। जितने बहार जायेंगे, उतने नीचे चले जायेंगे। अस्तित्व की दृष्टि से ऊपर और भीतर एक ही अर्थ है, भाषा की दृष्टि से नहीं। जिन लोगों ने भी भीतर की यात्रा की, उनका अंधेरा कम होता गया, ज्योति बढ़ी, प्रकाश बढ़ा।

अग्नि में एक और गुण है, उसका यह स्वभाव है, जो शुद्ध होता है, बचा लेती है, अशुद्ध को जला देती है। सोने को अग्नि में डाल दें, तो अशुद्ध है उसे जला देती है और शुद्ध बचा लेती है, शुद्ध निखर आता है, इसलिये अग्नि परीक्षा बन गयी, अशुद्ध को जलाने के लिये, शुद्ध को बचाने के लिये। अग्नि प्रतीक है, इस बात का कि जो अशुद्ध है उसे जला देगी, शुद्ध को बचा लेगी। यह अग्नि का स्वभाव है, शुद्ध को बचाने के लिये आतुर रहती है।

हमारे भीतर बहुत कुछ अशुद्ध है, इतना ज्यादा अशुद्ध है, कि शुद्ध का पता ही नहीं हैं। कहीं होगा छिपा हुआ शुद्ध। गुरू बताये भी कि भीतर तुम्हारे स्वर्ण भी है, तो सभी कंकड़-पत्थर के सिवा कुछ पाते ही नहीं, इतना अन्दर छिपा हुआ है कि मिट्टी-कचरे के अलावा कुछ मिलता ही नहीं और जिस स्वर्ण पर ज्यादा कालिमा हो, जो सदा काली हो, उसे ज्यादा देर तक अग्नि में तपाना पड़ता है। ये स्वर्ण जो मुझे मिले है, वे कोयले की खान से मिले हैं, कोयले की पूरी कालिमा उनमें समाहित है, उस कालिमा के बीच कहीं स्वर्ण दबा होगा, इसीलिये कोयले को तपाना पड़ता है, जब तक स्वर्ण ना मिल जाये। तप का यही तात्पर्य है कि हम इतनी अग्नि से गुजरे कि जो भी अशुद्ध है, वह जल जाये और जो भी शुद्ध है, वह बच जाये।

इसलिये ज्ञानी, चेतनावान साधक कहते है, कि हे देव, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। मुझे कुछ पता नहीं कि क्या रास्ता है! मुझे यह भी पता नहीं कि शुभ क्या है, क्या अशुभ है! मैं अज्ञानी हूँ, तू मुझे ले चल। देवता कौन? देवता वही है, जो दिव्य है, इतना ही नहीं, जो दिव्य की ओर ले जाता है, जो दिव्य की ओर उन्मुख करता है, वह देवता है। इसलिये लोगों ने कहा गुरू देवता है, जहां दिव्यता की ओर इशारा मिल जाता है, संकेत मिल जाता है, जिसके पास पहुँच कर असीम शांति की अनुभूति होती है, जिसके पास बैठने से हृदय की वीणा झंकृत हो जाये, वही देवता है।

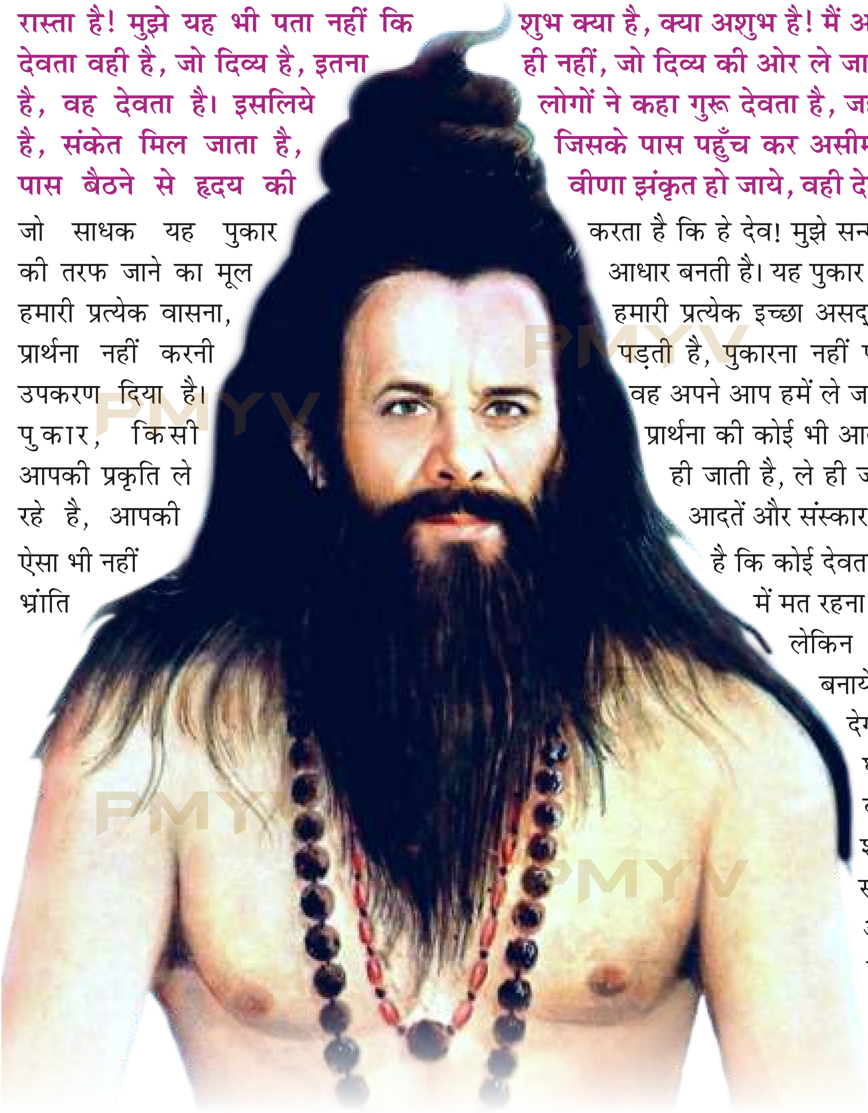

जो साधक यह पुकार करता है कि हे देव! मुझे सन्मार्ग पर ले चल, तो यह पुकार ही सन्मार्ग की तरफ जाने का मूल आधार बनती है। यह पुकार असाधारण है, क्योंकि हमारी प्रत्येक वृत्ति, हमारी प्रत्येक वासना, हमारी प्रत्येक इच्छा असद् मार्ग की तरफ ले जाती है। इसके लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है, पुकारना नहीं पड़ता। इसके लिये प्रकृति ने हमें काफी उपकरण दिया है। वह अपने आप हमें ले जाती है। नीचे की तरफ उतरना हो तो किसी पुकार, किसी प्रार्थना की कोई भी आवश्यकता नहीं है। अंधेरे की तरफ आपको आपकी प्रकृति ले ही जाती है, ले ही जा रही है। आपके अपने ही कर्म लिये जा रहे है, आपकी आदतें और संस्कार लिये जा रहे हैं।

ऐसा भी नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जायेगा। इस भ्रांति में मत रहना। सन्मार्ग की तरफ जाना तो आपको ही है। लेकिन यह प्रार्थना आपको जाने में असमर्थ बनायेगी। यह प्रार्थना आपके भीतर के द्वारा तोड़ देगी, यदि यही प्रार्थना सघन हो जाये, घनीभूत हो जाये, अगर प्यास और पुकार बन जाये और रोयां रोयां चिल्लाने लगे, श्वास-श्वास कहने लगे कि ले चल मुझे सदगुरू प्रभु! उर्ध्वगमन की ओर, ऊपर की ओर। तब आप पूरे साधक हो जायेंगे साधना में लीन हो जायेंगे, आपके सारे बहाने समाप्त हो जायेंगे, फिर समय मिल जायेगा साधना के लिये, प्रभु का स्मरण करने के लिये।

साधना के द्वारा जब प्राण का रोयां-रोयां कंपित होने लगे, हृदय की धड़कन-धड़कन आंदोलित होने लगे, रात के स्वप्न भी उससे प्रभावित होने लगे, वह आपकी धुन बन जाये, तब आप स्वयं अनुभव कर सकेंगे सद्गुरू को, अपने निकट अनुभव कर पायेंगे, बिल्कुल आत्मा और प्राण की भांति। लेकिन उसके पहले आपको पहल करनी पड़ेगी। साधना करनी पड़ेगी। अपनी साधना से ही आप बदल सकते है, आपका रूपांतरण हो सकता है। साधना तो स्वयं में ही फल है। इसलिये साधना करके चुपचाप भूल जानां आप साधना कर सके, यही बहुत बड़ी बात है। आप साधना प्रारम्भ कर सको, यही अपने आप में आपके जीवन का बहुमूल्य फल है, क्योंकि साधना करना कोई साधारण क्रिया नहीं है, यह तो असाधरण है। वर्षो बीत जाते है, केवल यह सोचने में कि कल से साधना प्रारम्भ करूंगा, और आज तक कल आया नहीं, ना ही आपकी साधना प्रारम्भ हो पायी। हो सकती है, बस थोड़ा सा स्वयं को व्यवस्थित करना है।

जो ऐसा करने में सफल होते है, उन्हें साधना की महत्ता ज्ञात होती है, वो ये जानते है, कि गुरू क्या होता? कितनी अनुकम्पा उनकी है। वह साधक परिचित हो जाता है, जीवन के रहस्यों और अपने लक्ष्य की ओर गतिशील होता है, वह संसार में रहते हुये भी सारे क्रिया-कलापों में सम्मलित होते हुये भी अपने लक्ष्य पर, **उर्ध्वगति** प्राप्त करने के लिये तटस्थ होता है।

सद्गुरूदेव जी के आशीर्वाद स्वरूप अमृत तो बरस रहे है, लेकिन लोग अपना घड़ा उल्टा रखकर बैठें है। ऐसा नहीं है कि जिस दिन घड़ा सीधा होगा, उसी दिन अमृत बरसेगा, कृपा बरसेगी, अमृत तो उस दिन भी बरस रहा था, जिस दिन आपका घड़ा उल्टा था, और वहां भी बरस रहा था जहां कोई घड़ा नहीं था।

परमात्मा रूपी **सद्गुरू** का तो स्वभाव ही कृपा है, अमृत उनका स्वभाव है, वे तो बरस ही रहें है। वे सतत् बरस रहें, हमारी ही मटकी उल्टी है। अहंकारी मटकी को उल्टा रखकर बैठता है और भरने की कोशिश करता है। मटकी को सीधी रखने का मतलब है, मैं ना कुछ हूं, इसकी घोषणा करना। जब मटकी सीधी होती है तो भीतर का खालीपन ही तो प्रगट होता है। उल्टी मटकी अपने भरे होने का भ्रम पैदा कर देती है, सीधी होकर मटकी को पता चलता है कि मैं तो सिवाय खालीपन के और कुछ भी नहीं हूँ और जब यह भाव आता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ तभी शिष्यता का पहला कदम प्रारम्भ होता है। तब उस मटकी में कुछ भरा जा सकता है।

फिर कृपा उसमें भर जाती है, क्योंकि मटकी सीधी हो गयी। यद्यपि आप मटकी सीधी ना करें तो उसकी कृपा का अनुभव कैसे कर पायेंगे। आपकी ही कृपा है कि आपने मटकी सीधी रखी और अपने आप पर कृपा करना ही साधना है **मंत्र जप** है और आप स्वयं पर कृपा करो, साधना में प्रवेश करो, इतना तो आपको करना ही चाहिये।

इस संसार से जो हम फैला लेते है उससे वियोग उससे अलग हो जाना। एक संसार है, जो परमात्मा का फैलाव है और एक संसार है, जो हमारा फैलाव है। हमारा फैलाव गिर जाना चाहिये, तो हम परमात्मा के संसार से संबंधित हो सकते है। जब तक मेरा अपना फैलाव है, तब तक संयोग कैसे होगा उससे, जो परमात्मा का है। यह कभी ख्याल में भी न आया होगा कि परमात्मा से मिल जाने के अतिरिक्त इस जगत में और कोई संतोष, कोई कंटेटमेंट नहीं है। वियोग अंसतोष है। जैसे किसी मां से उसका छोटा सा बेटा बिछुड गया हो और असंतुष्ट हो, ठीक वैसे ही हम अस्तित्व से बिछुड़ जाते है और असंतुष्ट रहते है। उस असंतोष में हम बहुत उपाय करते है संतोष के, लेकिन सब असफल होते है, सब फ्रस्ट्रेड हो जाते है।

एक ही संतोष है, वह मिलन, संयोग उससे, जिससे हम छुट गये है वापस उस मूल स्त्रोत से एक हो जाना। इसलिये अतिरिक्त संतुष्ट आदमी होता ही नहीं। बाकी सब आदमी असंतुष्ट होंगे ही। वे कुछ भी करे, असंतोष उनका पीछा न छोड़ेगा। वे कुछ भी पा लें या खो दें, असंतोष से उनका संबंध बना ही रहेगा। वे धनी हो कि निर्धन, वे दीन हो, द्ररिद्र हो कि सम्राट असंतोष उनका पीछा करेगा। असंतोष छाया की तरह पीछे लगा ही रहेगा। कहीं भी जाये आप। सिर्फ एक जगह अंसतोष नहीं जाता। वह परमात्मा से जो मिलन है, वहाँ भर अंसतोष नहीं जाता।

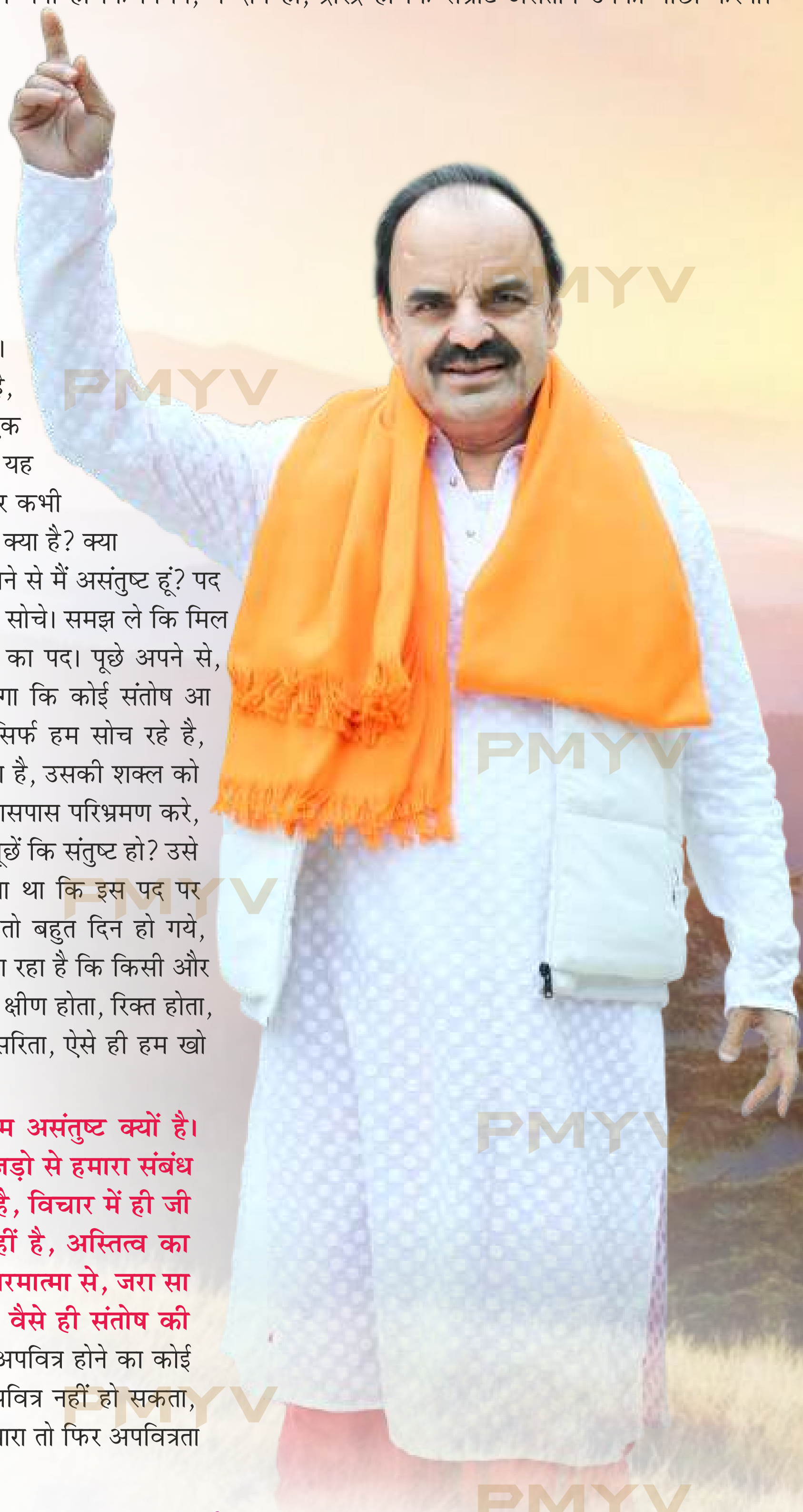

उसके कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि हमने कभी पूछा ही नहीं अपने से कि हम असंतुष्ट क्यों है। रास्ते पर एक कार गुजरती दिखाई पड़ जाती है, तो हम सोचते है, यह कार मिल जाये तो संतोष मिल जायेगा। एक महल दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते है, यह महल मिल जाये तो संतोष मिल जायेगा। एक सम्राट दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते है, यह सिंहासन अपना हो तो संतोष मिल जायेगा और कभी अपने से पूछा नही कि मेरे असंतोष का कारण क्या है? क्या कार न होने से मैं असंतुष्ट हूँ? क्या महल न होने से मैं असंतुष्ट हूं? पद न होने से मैं असंतुष्ट हूं? तो फिर थोड़ा मन में सोचे। समझ ले कि मिल गई कार, मिल गया महल, मिल गया सम्राट का पद। पूछे अपने से, मिल गया-संतोष आयेगा? और तत्काल लगेगा कि कोई संतोष आ नहीं सकता। लेकिन हो सकता है कि यह सिर्फ हम सोच रहे है, इसलिये न मालूम पड़े। तो वह जो कार में बैठा है, उसकी शक्ल को देखे, वह जो महल में विराजमान है, उसके आसपास परिभ्रमण करे, तो वह जो पद पर बैठा हुआ है, उससे जाकर पूछें कि संतुष्ट हो? उसे भी ऐसा ही लगा था एक दिन। उसे भी लगा था कि इस पद पर होकर संतोष हो जायेगा। फिर पद पर आये तो बहुत दिन हो गये, संतोष तो जरा भी नही आया। हाँ, अब उसे लग रहा है कि किसी और बड़े पद पर हो, तो संतोष हो जाये। ऐसे जीवन क्षीण होता, रिक्त होता, मिटता, टूटता। रेत में खो जाती है जैसे कोई सरिता, ऐसे ही हम खो जाते है और बिखर जाते है।

हमने कभी ठीक से पूछा ही नहीं कि हम असंतुष्ट क्यों है। हमारे असंतोष का कुल कारण इतना है, जड़ो से हमारा संबंध टूट गया है। हम सिर्फ विचार करते रहते है, विचार में ही जी रहे है और विचार का कोई भी मूल्य नहीं है, अस्तित्व का मूल्य है। क्योंकि जैसे ही मिलन होता है परमात्मा से, जरा सा क्षणभर के लिये भी संपर्क जुड़ जाता है, वैसे ही संतोष की वर्षा हो जाती है। परमात्मा को पाने के बाद अपवित्र होने का कोई उपाय नहीं है। वह असंभावना है। साधक अपवित्र नहीं हो सकता, वह पावन है। प्रभु से जुड़ गई हो जरा सी भी धारा तो फिर अपवित्रता का कोई उपाय नहीं है।

परम् पूज्य सद्गुरूदेव
कैलाश श्रीमाली जी